अर्हम्—श्री सद्गुरुभ्योनमः

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाला-पुष्प-३२

जैन दर्शन तथा साहित्य का भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा पर प्रभाव

लेखक
डॉ. नरेन्द्र भानावत

प्रकाशक - श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, दादाबाड़ी, अजमेर

समर्पण

जैन दर्शन के मर्मज्ञ,
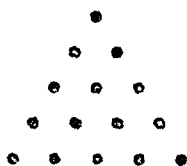
साहित्य प्रेमी एवं जैन धर्म के प्रति निष्ठावान

आदरणीय श्री गोपीचंदजी सा. धाड़ीवाल

को

के [illegible] वस के शुभ अवसर पर

[illegible] त

[illegible] :

[illegible]

मन्त्री :

श्री जिनदत्तसूरि मण्डल
दादाबाड़ी, अजमेर

•

आवृत्ति — प्रथम
प्रति — १०००
ई. सन् — १९८०
वीर संवत् — २५०६
वि. संवत् — २०३६

•

मूल्य :
रुपये १.५०

•

मुद्रक :
शिरीशचंद्र शिवहरे
फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस
श्रीनगर रोड, अजमेर (राज.)

प्रकाशकीय

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाला का ३३ वां पुष्प आपके सम्मुख है। इस ज्ञानमाला द्वारा आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं भक्ति योग सम्बंधी विविध पुस्तकों का प्रकाशन निरंतर होता आ रहा है। साथ ही प्रकाशित साहित्य का समुचित लोकादर भी हो रहा है तथा कई पुस्तकों के कई संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं।

वर्तमान पुस्तक में लेखक ने जैन दर्शन की उदारता व विशालता पर व्यापक विवेचन करते हुए जैन साहित्य कला आदि का भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा पर कितना व्यापक प्रभाव है इसका दिग्दर्शन कराया है। वास्तव में जैन दर्शन व साहित्य को भारतीय इतिहास से निकाल दिया जाय तो भारतीय इतिहास अधूरा ही रहेगा।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि "जैन दृष्टि से धर्म केवल वैयक्तिक आचरण ही नहीं है, वह सामाजिक आवश्यकता और समाज कल्याण व्यवस्था का महत्वपूर्ण घटक भी है। यहाँ वैयक्तिक आचरण को पवित्र और मनुष्य की आंतरिक शक्ति को जाग्रत करने की दृष्टि से क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, संयम, त्याग, ब्रह्मचर्य जैसे मनोभावाधारित धर्मों की व्यवस्था है वहां सामाजिक चेतना को विकसित और सामाजिक संगठन को सुदृढ़ तथा स्वस्थ बनाने की दृष्टि से ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म कुल धर्म, गण धर्म, संघ धर्म जैसे समाजोन्मुखी धर्मों तथा ग्राम स्थविर, नगर स्थविर, प्रशास्ता स्थविर, गण स्थविर, संघ स्थविर जैसे धर्म नायकों की भी व्यवस्था

स्थान की संस्कृति में जैनदर्शन एवं साहित्य की भूमिका

ाहित्य और संस्कृति :

र्म और साहित्य दोनों संस्कृति के प्रमुख अंग हैं। संस्कृति
ा मस्तिष्क है, धर्म जन का हृदय और धर्म की रसात्मक
ति है साहित्य। जब-जब संस्कृति ने कठोर रूप धारण
, हिंसा का पथ अपनाया, अपने रूप को भयावह व
ा बनाने का प्रयत्न किया, तब-तब धर्म ने उसे हृदय का
लुटा कर कोमल बनाया, अहिंसा और करुणा की बरसात
ाके रक्तानुरंजित पथ को स्नेहपूरित और अमृतमय
ा, संयम, तप और सदाचार से उसके जीवन को सौन्दर्य
शक्ति का वरदान दिया। मनुष्य की मूल समस्या है—
द की खोज। यह आनन्द तब तक नहीं मिल सकता जब
के मनुष्य भय-मुक्त न हो, आतंक-मुक्त न हो। इस भय-
के लिये दो शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम तो यह कि मनुष्य
जीवन को इतना शीलवान, सदाचारी और निर्मल बनाये
ोई उससे न डरे। द्वितीय यह कि वह अपने में इतना
र्थ, सामर्थ्य और बल संचित करे कि कोई उसे डरा-धमका
के। प्रथम शर्त को धर्म पूर्ण करता है और दूसरी को
ति। साहित्य इन्हें संवेदना के स्तर पर कलापूर्ण बनाता है।

धर्म और मानव संस्कृति :

जैन मान्यता के अनुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था
र्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीनों कालों में जीवन अत्यन्त

वैसे जैन दर्शन व्यक्ति पूजा को नहीं वरन् गुण पूजा
महत्व देता है । यही कारण है कि इसके नवकार महा मंत्र
किसी व्यक्ति विशेष या धर्म का नाम तक [illegible] भी न
है । इसमें सिर्फ [illegible] का ध्यान है । सम्भवतः विश्व
किसी भी धर्म में ऐसा सर्वाङ्गीण, सर्व स्पर्शी महामंत्र दृ
गोचर नहीं होता ।

वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रस्तुत पुस्तक पठनीय एवं मनन
है । हमारा अनुरोध है कि संस्थाएं व समर्थ पुरुष इस पुस
को प्रत्येक जैन व अजैन के हाथों में पहुँचाने का प्रयत्न
तो जैन धर्म की वास्तविक सेवा होगी ।

उक्त दृष्टि को मद्देनजर रखते हुए साहित्य अनुरागी व
जैन धर्म के प्रति हार्दिक निष्ठा रखने वाले श्रा० श्री गोपीचंदजी
सा. धाड़ीवाल ने आर्थिक सहयोग देकर मण्डल को इसे प्रका-
शित करने की प्रेरणा दी ताकि इसकी बिक्री की आय से
अगले संस्करण निकलते रहें । हम श्री धाड़ीवालजी सा० की
उदारता के लिए आभारी हैं व उनकी दीर्घायु की कामना
करते हुए अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते है ।

चांदमल सीपाणी
मंत्री
श्री जिनदत्तसूरि मण्डल,
अजमेर

१६-१-८०

धर्म के इस अहिंसामय रूप ने संस्कृति को अत्यन्त तरल और विस्तृत बना दिया। उसे जनरक्षा (मानव समुदाय) तक सीमित न रखकर समस्त प्राणियों की सुरक्षा का भार भी संभलवा दिया।

जैन धर्म में जनतांत्रिक सामाजिक चेतना के तत्त्व :

यद्यपि यह सही है कि धर्म का मूल केन्द्र व्यक्ति होता है क्योंकि धर्म आचरण से प्रकट होता है पर उसका प्रभाव समूह या समाज में प्रतिफलित होता है और इसी परिप्रेक्ष्य में जनतांत्रिक सामाजिक चेतना के तत्वों को पहचाना जा सकता है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि जनतांत्रिक सामाजिक चेतना की अवधारणा पश्चिमी जनतंत्र—यूनान के प्राचीन नगर राज्य और कालान्तर में फ्रांस की राज्य क्रान्ति की देन है। पर सर्वथा ऐसा मानना ठीक नहीं। प्राचीन भारतीय राजतंत्र व्यवस्था में आधुनिक इंगलैण्ड की भांति सीमित व वैधानिक राजतन्त्र से युक्त प्रजातंत्रात्मक शासन के बीज विद्यमान थे। जन सभाओं और विशिष्ट आध्यात्मिक ऋषियों द्वारा राजतंत्र सीमित था। स्वयं भगवान् महावीर लिच्छिवीगण राज्य से सम्बन्धित थे। यह अवश्य है कि पश्चिमी जनतंत्र और भारतीय लोकतंत्र की विकास प्रक्रिया और उद्देश्यों में अंतर रहा है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है :—

1. पश्चिम में स्थानीय शासन की उत्पत्ति केन्द्रीय शक्ति से हुई है जबकि भारत में इसकी उत्पत्ति जन-समुदाय की शक्ति से हुई है।

2. पाश्चात्य जनतांत्रिक राज्य पूंजीवाद, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के बल पर फले-फूले हैं। वे अपनी स्वतंत्रता के लिये तो संघर्ष करते हैं पर दूसरे देशों को राजनैतिक दासता

का शिकार बनाकर उन्हें स्वशासन के अधिकार से वंचित रखने की साजिश करते हैं। पर भारतीय जनतंत्र का रास्ता इससे भिन्न है। उसने आर्थिक शोषण और राजनैतिक प्रभुत्व के उद्देश्यों से कभी बाहरी देशों पर आक्रमण नहीं किया। उसकी नीति शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की रही है।

3. पश्चिमी देशों ने पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों प्रकार के जनतंत्रों को स्थापित करने में रक्तपात, हत्याकाण्ड और हिंसक क्रांति का सहारा लिया है पर भारतीय जनतन्त्र का विकास लोक-शक्ति और सामूहिक चेतना का फल है। अहिंसक प्रतिरोध और सत्याग्रह उसके मूल आधार रहे हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में जनतन्त्र केवल राजनैतिक संदर्भ ही नहीं है। यह एक व्यापक जीवन पद्धति है, एक मानसिक दृष्टिकोण है जिसका संबंध जीवन के धार्मिक, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी पक्षों से है। इस धरातल पर जब हम चिन्तन करते हैं तो मुख्यत: जैन दर्शन में और अधिकांशत: अन्य भारतीय दर्शनों में भी जनतांत्रिक सामाजिक चेतना के निम्न लिखित मुख्य तत्व रेखांकित किये जा सकते हैं:—

1. स्वतन्त्रता
2. समानता
3. लोककल्याण
4. सार्वजनीनता

1. स्वतन्त्रता:—स्वतन्त्रता जनतन्त्र की आत्मा है और जैन दर्शन की मूल भित्ति भी। जैन मान्यता के अनुसार जीव

एक प्रकार से आत्मा को कर्माधीन बना देता है। पर सच
तो यह है कि महावीर की कर्माधीनता भाग्य द्वारा नियं-
न होकर पुरुषार्थ द्वारा संचालित है। महावीर स्पष्ट
ते हैं–'हे आत्मन् ! तू स्वयं ही अपना निग्रह कर। ऐसा
ने से तू दुखों से मुक्त हो जायेगा।' यह सही है कि आत्मा
ने कृत कर्मों को भोगने के लिये बाध्य है पर वह इतनी
य नहीं कि वह उसमें परिवर्तन न ला सके। महावीर की
ट में आत्मा को कर्मबन्ध में जितनी स्वतन्त्रता है, उतनी
स्वतन्त्रता उसे कर्मफल के भोगने की भी है। आत्मा अपने
ार्थ के बल पर कर्मफल में परिवर्तन ला सकती है। इस
ध में भगवान् महावीर के कर्म-परिवर्तन के निम्नलिखित
र सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं :—

(1) उदीरणा–नियत अवधि से पहले कर्म का उदय में आना।

(2) उद्वर्तन–कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में अभिवृद्धि होना।

(3) अपवर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में कमी होना।

(4) संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति में संक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्त के आधार पर भगवान् महावीर ने प्रति-
ादित किया कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल से बन्धे हुए
र्मों की अवधि को घटा-बढ़ा सकता है और कर्मफल की शक्ति
न्द अथवा तीव्र कर सकता है। इस प्रकार नियत अवधि से

पहले कर्म भोगा जा सकता है और तीव्र फल वाला कर्म
फल वाले कर्म के रूप में, मन्द फल वाला कर्म तीव्र फल
कर्म के रूप में बदला जा सकता है। यही नहीं, पुण्य क
परमाणु को पाप के रूप में और पाप कर्म के परमाणु को
के रूप में संक्रान्त करने की क्षमता भी मनुष्य के स्वयं के
पार्थ में है। निष्कर्ष यह कि महावीर मनुष्य को इस बा
स्वतन्त्रता देते हैं कि यदि वह जागरूक है, अपने पुरुषा
प्रति सच्चा है और विवेक पूर्वक अप्रमत्त भाव से अपने
सम्पादित करता है, तो वह कर्म की अधीनता से मुक्
सकता है, परमात्म दशा (पूर्ण स्वतन्त्रता) को प्राप्त
सकता है।

जैन दर्शन की यह स्वतन्त्रता निरंकुश एकाधिकारवादि
की उपज नहीं है। इसमें दूसरों के अस्तित्व की स्वतन्त्रता
भी पूर्ण रक्षा है। इसी बिन्दु से अहिंसा का सिद्धान्त उभ
है जिसमें जन के प्रति ही नहीं, प्राणी मात्र के प्रति मि
और बन्धुत्व का भाव है। यहां जन अर्थात् मनुष्य ही प्रा
नहीं है और मात्र उसकी हत्या ही हिंसा नहीं है। जैन शा
में प्राण अर्थात् जीवन शक्ति के दस भेद बताये गये हैं:—सु
की शक्ति, देखने की शक्ति सूंघने की शक्ति, स्वाद लेने क
शक्ति, छूने की शक्ति, विचारने की शक्ति, बोलने की शक्ति
गमनागमन की शक्ति, श्वास लेने-छोड़ने की शक्ति औ
जीवित रहने की शक्ति। इनमें से प्रमत्त योग द्वारा किसी भ
प्राण को क्षति पहुंचाना, उस पर प्रतिबन्ध लगाना, उसक
स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाना, हिंसा है। जब हम किसी क
स्वतन्त्र चिंतन को बाधित करते हैं, उसके बोलने पर प्रतिबन्
लगाते हैं और गमनागमन पर रोक लगाते हैं तो प्रकारान्तर से

क्रमशः उनके मन, वचन और काया रूप प्राण की हिंसा करते हैं। इसी प्रकार किसी के देखने, सुनने, सूंघने, चखने, छूने आदि पर प्रतिबंध लगाना भी विभिन्न प्राणों की हिंसा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वतन्त्रता का यह सूक्ष्म, उदात्त चिंतन ही हमारे संविधान के स्वतन्त्रता संबंधी मौलिक अधिकारों का उत्स रहा है।

विचार-जगत में स्वतन्त्रता का बड़ा महत्त्व है। आत्म-निर्णय और मताधिकार इसी के परिणाम हैं। कई साम्यवादी देशों में सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता होते हुए भी इच्छा स्वातन्त्र्य का यह अधिकार नहीं है। पर जैन दर्शन में और हमारे संविधान में भी विचार स्वातन्त्र्य को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार जगत में जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं। सृष्टि का विकास इन्हीं पर आधारित है। जीव का लक्षण चैतन्यमय कहा गया है। जीव अनन्त हैं और उनमें आत्मगत समानता होते हुए भी संस्कार, कर्म और बाह्य परिस्थिति आदि अनेक कारणों से उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास में बहुत ही अन्तर आ जाता है। इसी कारण सब की पृथक् सत्ता है और सब अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं। अनन्त जीवों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होने तथा कर्मों की विविध वर्गणाओं के कारण उनके विचारों में विभिन्नता होना स्वाभाविक है। अलग-अलग जीवों की बात छोड़िये, एक ही मनुष्य में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अलग-अलग विचार उत्पन्न होते रहते हैं। अतः दार्शनिकों के समक्ष सदैव यह एक जटिल प्रश्न बना रहा कि इस विचारगत विषमता में समता कैसे स्थापित की जाये?

जैन तीर्थंकरों ने और विशेषतः भगवान महावीर ने इस प्रश्न पर बहुत ही गंभीरतापूर्वक चिन्तन किया और निश्चित रूप में कहा-प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। द्रव्य में उत्पाद और व्यय से होने वाली अवस्थाओं को पर्याय कहा गया है। गुण कभी नष्ट नहीं होते और न अपने स्वभाव को बदलते हैं किन्तु पर्यायों के द्वारा अवस्था से अवस्थान्तर होते हुए सदैव स्थिर बने रहते हैं। जैसे स्वर्ण द्रव्य है। किसी ने उसके कड़े बनवा लिये और फिर उन

महावीर ने स्पष्ट कहा कि प्रत्येक जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व
इसलिये उसकी स्वतन्त्र विचार-चेतना भी है। अतः जैसा
: सोचते हो एक मात्र वही सत्य नहीं है। दूसरे जो सोचते हैं
में भी सत्यांश निहित है। अतः पूर्ण सत्य का साक्षात्कार
ने के लिये इतर लोगों के सोचे हुये, अनुभव किये हुए
यांशों को भी महत्त्व दो। उन्हें समझो, परखो और उसके
लोक में अपने सत्य का परीक्षण करो। इससे न केवल तुम्हें
सत्य का साक्षात्कार होगा वरन् अपनी भूलों के प्रति
ार करने का अवसर भी मिलेगा। प्रकारान्तर से महावीर
यह चिन्तन जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था में स्वस्थ विरोधी
की आवश्यकता और महत्ता प्रतिपादित करता है तथा
बात की प्रेरणा देता है कि किसी भी तथ्य को भली प्रकार
मझने के लिये अपने को विरोध पक्ष की स्थिति में रखकर
स पर चिंतन करो। तब जो सत्य निखरेगा वह निर्मल निर्वि-
ार और निष्पक्ष होगा। महावीर का यह वैचारिक औदार्य
ौर सापेक्ष चिंतन स्वतंत्रता का रक्षा कवच है। यह दृष्टिकोण
नेकांत सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित है।

2. समानता:—स्वतन्त्रता की अनुभूति वातावरण और
वसर की समानता पर निर्भर है। यदि समाज में जाति-
त वैषम्य और आर्थिक असमानता है तो स्वतन्त्रता के प्रदत्त
धिकारों का भी कोई विशेष उपयोग नहीं। इसलिये महावीर
स्वतन्त्रता पर जितना बल दिया उतना ही बल समानता
र दिया। उन्हें जो विरक्ति हुई वह केवल जीवन की नश्वरता
ा सांसारिक असारता को देखकर नहीं, वरन् मनुष्य द्वारा
नुष्य का शोषण देखकर वे तिलमिला उठे और उस शोषण
ो मिटाने के लिये, जीवन के हर स्तर पर समता स्थापित

का सारा जीवन । जिसे समाज ने कुछ लेना नहीं, देना ही
। है । दूसरी ओर उन्होंने उपासक संस्था-श्रावक संस्था
े को जिसके परिग्रह की मर्यादा है । जो अणुव्रती है ।

श्रावक के बारह व्रतों पर जब हम चिंतन करते हैं तो
ना है कि अहिंसा के समानान्तर ही परिग्रह की मर्यादा
र नियमन का विचार चला है । गृहस्थ के लिये महावीर
; नहीं कहते कि तुम संग्रह न करो । उनका बल इस बात
: है कि आवश्यकता से अधिक संग्रह मत करो । और जो
ग्रह करो उस पर स्वामित्व की भावना मत रखो । पाश्चात्य
नतांत्रिक देशों में स्वामित्व को नकारा नहीं गया है । वहां
पत्ति को एक स्वामी से छीन कर दूसरे को स्वामी बना देने
र बल है । इस व्यवस्था में ममता टूटती नहीं, स्वामित्व बना
हता है और जब तक स्वामित्व का भाव है—संघर्ष है, वर्ग
द है । वर्ग-विहीन समाज रचना के लिये स्वामित्व का
सर्जन जरूरी है । महावीर ने इसलिये परिग्रह को संपत्ति
हीं कहा, उसे मूर्च्छा या ममत्व भाव कहा है । साधु तो
गतान्त अपरिग्रही होता है, गृहस्थ भी धीरे-धीरे उस ओर
ढ़े, यह अपेक्षा है । इसीलिये महावीर ने श्रावक के बारह
तों में जो व्यवस्था दी है वह एक प्रकार से स्वैच्छिक स्वा-
मत्व-विसर्जन और परिग्रह-मर्यादा, सीलिंग की व्यवस्था है ।
ार्थिक विषमता के उन्मूलन के लिये यह आवश्यक है कि
यक्ति के अर्जन के स्रोत और उपभोग के लक्ष्य मर्यादित
गैर निश्चित हों । बारह व्रतों में तीसरा अस्तेय व्रत इस बात
ार बल देता है चोरी करना ही वर्जित नहीं है बल्कि चोर
ारा चुराई हुई वस्तु को लेना, चोर को प्रेरणा करना, उसे
केसी प्रकार की सहायता करना, राज्य नियमों के विरुद्ध

प्रवृत्ति करना, झूठा नाप-तोल करना, झूठा दस्तावेज लिख,
झूठी साक्षी देना, वस्तुओं में मिलावट करना, अच्छी व
दिखाकर घटिया दे देना आदि सब पाप हैं। आज की ब
हुई चोर-बाजारी, टैक्स चोरी, खाद्य पदार्थों में मिलावट की
प्रवृत्ति आदि सब महावीर की दृष्टि से व्यक्ति को प
की ओर ले जाते हैं और समाज में आर्थिक-विषमता के
कारण बनते हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिये पांचवें व्रत में
उन्होंने खेत, मकान, सोना-चांदी आदि जेवरात, धन-धान्य
पशु-पक्षी, जमीन-जायदाद आदि को मर्यादित, आज की
शब्दावली में इनका सीलिंग करने पर जोर दिया है और
इच्छाओं को उत्तरोत्तर नियंत्रित करने की बात कही है। छठे
व्रत में व्यापार करने के क्षेत्र को सीमित करने का विधान है।
क्षेत्र और दिशा का परिमाण करने से न तो तस्करवृत्ति को
पनपने का अवसर मिलता है और न उपनिवेशवादी वृत्ति को
बढ़ावा मिलता है। सातवें व्रत में अपने उपभोग में आने वाली
वस्तुओं की मर्यादा करने की व्यवस्था है। यह एक प्रकार का
स्वैच्छिक राशनिंग सिस्टम है। इसमें व्यक्ति अनावश्यक संग्रह
से बचता है और संयमित रहने से साधना की ओर प्रवृत्ति
बढ़ती है। इसी व्रत में अर्थार्जन के ऐसे स्रोतों से बचते रह
की बात कही गयी है जिनसे हिंसा बढ़ती है, कृषि-उत्पादन को
हानि पहुंचती है और असामाजिक तत्त्वों को प्रोत्साहन मिलता
है। भगवान् महावीर ने ऐसे व्यवसायों को कर्मदान की संज्ञा
दी है और उनकी संख्या पन्द्रह बतलायी है। आज के संदर्भ में
इंगालकम्मे-जंगल में आग लगाना, असईजणपोसणया-असं-
यति जनों का पोषण करना अर्थात् असामाजिकतत्वों को
पोषण देना, आदि पर रोक का विशेष महत्त्व है।

3. लोक कल्याण:—जैसा कि कहा जा चुका है महावीर गृहस्थों के लिये संग्रह का निषेध नहीं किया है बल्कि आवश्यकता से अधिक संग्रह न करने को कहा है। इसके दो फलितार्थ हैं—एक तो यह कि व्यक्ति अपने लिये जितना आवश्यक हो उतना ही उत्पादन करे। दूसरा यह कि अपने लिये जितना आवश्यक हो उतना तो उत्पादन करे ही और दूसरों के लिये जो आवश्यक हो उसका भी उत्पादन करे। यह दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है। जैन धर्म पुरुषार्थ प्रधान धर्म है अतः वह व्यक्ति को निष्क्रिय व अकर्मण्य बनाने की शिक्षा नहीं देता। राष्ट्रीय उत्पादन में व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका को जैन दर्शन स्वीकार करता है पर वह उत्पादन शोषण, जमाखोरी और आर्थिक विषमता का कारण, न बने, इसका विवेक रखना आवश्यक है। सरकारी कानून-कायदे तो इस दृष्टि से समय-समय पर बनते ही रहते हैं पर जैन साधना में व्रत-नियम, तप-त्याग और दान-दया के माध्यम से इस पर नियंत्रण रखने का विधान है। तपों में वैयावृत्य अर्थात् सेवा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसी सेवा-भाव से धर्म का सामाजिक पक्ष उभरता है। जैन धर्मावलिम्बयों ने शिक्षा, चिकित्सा, छात्रवृत्ति, विधवा सहायता आदि के रूप में अनेक ट्रस्ट खड़े कर राष्ट्र की महान सेवा की है। हमारे यहां शास्त्रों में पैसा अर्थात् रुपयों के दान का विशेष महत्त्व नहीं है। यहां विशेष महत्व रहा है—आहारदान, ज्ञानदान, औषधदान और अभयदान का। स्वयं भूखे रह कर दूसरों को भोजन कराना पुण्य का कार्य माना गया है। अनशन अर्थात् भूखा रहना, अपने प्राणों के प्रति मोह छोड़ना, प्रथम तप कहा गया है पर दूसरों को भोजन, स्थान, वस्त्र, आदि देना, उनके प्रति मन से शुभ प्रवृत्ति करना,

वाणी से हित-वचन बोलना और शरीर से शुभ व्यापार करना तथा समाज-सेवियों व लोक-सेवकों का आदर-सत्कार करना भी पुण्य माना गया है। इसके विपरीत किसी का भोजन-पानी से विच्छेद करना 'भत्तपाणवुच्छेए' अतिचार पाप माना गया है।

महावीर ने स्पष्ट कहा है—जैसे जीवित रहने का हमें अधिकार है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी। जीवन का विकास संघर्ष पर नहीं सहयोग पर ही आधारित है। जो प्राणी जितना अधिक उन्नत और प्रबुद्ध है, उसमें उसी अनुपात में सहयोग और त्यागवृत्ति का विकास देखा जाता है। मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। इस नाते दूसरों के प्रति सहयोगी बनना उसका मूल स्वभाव है। अन्तःकरण में सेवा-भाव का उद्रेक तभी होता है जब "आत्मवत् सर्वभूतेषु" जैसा उदात्त विचार शेष सृष्टि के साथ आत्मीय संबंध जोड़ पाता है। इस स्थिति में जो सेवा की जाती है वह एक प्रकार से सहज स्फूर्त सामाजिक दायित्व ही होता है। लोक-कल्याण के लिये अपनी सम्पत्ति विसर्जित कर देना एक बात है और स्वयं सक्रिय घटक बन कर सेवा कार्यों में जुट जाना दूसरी बात है। पहला सेवा का नकारात्मक रूप है जबकि दूसरे में सकारात्मक रूप। इसमें सेवाव्रती 'स्लीपिंग पार्टनर' बन कर नहीं रह सकता, उसे सजग प्रहरी बन कर रहना होता है।

लोक-सेवक में सरलता, सहृदयता और संवेदनशीलता का गुण होना आवश्यक है। सेवाव्रती को किसी प्रकार का अहम् न छू पाये और वह सत्तालिप्सु न बन जाये, इस बात की सतर्कता पद-पद पर बरतनी जरूरी है। विनय को, जो धर्म का मूल कहा गया है, उसकी अर्थवत्ता इस संदर्भ में बड़ी गहरी है।

ोक-सेवा के नाम पर अपना स्वार्थ साधने वालों को महा-
ने इस प्रकार चेतावनी दी है:—

असंविभागी असंगहरुई अप्पमाणभोई।
से तारिसए नाराहए वयमिणं॥

अर्थात्—जो असंविभागी है-जीवन साधनों पर व्यक्तिगत
मत्व की सत्ता स्थापित कर दूसरों के प्रकृति प्रदत्त संवि-
को नकारता है, असंग्रहरुचि-जो अपने लिये ही संग्रह करके
ा है और दूसरों के लिये कुछ भी नहीं रखता, अप्रमाण
ो-मर्यादा से अधिक भोजन एवं जीवन-साधनों का स्वयं
ोग करता है, वह आराधक नहीं, विराधक है।

4. सार्वजनीनता:—स्वतन्त्रता, समानता और लोककल्याण
भाव सार्वजनीनता (धर्म निरपेक्षता) की भूमि में ही
-फूल सकता है। धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म-विमुखता या
-रहितता न होकर असाम्प्रदायिक भावना और सार्वजनीन
भाव से है। हमारे देश में विविध धर्म और धर्मानुयायी
इन विविध धर्मों के अनुयायियों में पारस्परिक सौहार्द,
ान और ऐक्य की भावना बनी रहे, सब को अपने-अपने
से उपासना करने और अपने-अपने धर्म का विकास करने
पूर्ण अवसर मिले तथा धर्म के आधार पर किसी के साथ
भाव या पक्षपात न हो, इसी दृष्टि से धर्म निरपेक्षता
ारे संविधान का महत्त्वपूर्ण अंग बना है। धर्म निरपेक्षता
इस अर्थभूमि के अभाव में न स्वतन्त्रता टिक सकती है और
समानता और न लोककल्याण की भावना पनप सकती है।
तीर्थंकरों ने सभ्यता के प्रारम्भ में ही शायद यह तथ्य
यंगम कर लिया था। इसीलिये उनका सारा चिन्तन धर्म-

निरपेक्षता अर्थात् सार्वजनीन समभाव के रूप में ही [illegible]
[illegible] में निम्नलिखित कुछ विशेष महत्वपूर्ण हैं —

(1) जैन तीर्थंकरों ने अपने नाम पर धर्म का नाम नहीं किया। 'जैन' शब्द, बाद का शब्द है। जैन [illegible] (श्रमण), आर्हत और निर्ग्रन्थ धर्म कहा गया है। [illegible] शब्द समभाव, श्रमशीलता और वृत्तियों के उपशमन का वाचक है। अर्हत् शब्द भी गुणवाचक है। जिसने पूर्ण योग्यता प्राप्त करली है वह है—अर्हत्। जिसने सब प्रकार की ग्रन्थियों से छुटकारा पा लिया है वह है 'निर्ग्रन्थ'। जिन्होंने राग-द्वेष रूप शत्रुओं-आन्तरिक विकारों को जीत लिया वे 'जिन' कहे गये हैं और उनके अनुयायी जैन। इस प्रकार यह धर्म किसी विशेष व्यक्ति, सम्प्रदाय या जाति का परिचायक न होकर उन उदात्त जीवन आदर्शों और सार्वजनीन भावों का प्रतीक है जिनमें संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य मैत्री-भाव निहित है।

(2) जैन धर्म में जो नमस्कार मंत्र है, उसमें किसी तीर्थंकर, आचार्य या गुरु का नाम लेकर वन्दना नहीं की गई। उसमें पंच परमेष्ठियों को नमन किया गया है—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं। अर्थात् जिन्होंने अपने अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली है, उन अरिहन्तों को नमस्कार हो, जो संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटकर शुद्ध परमात्मा बन गये हैं उन सिद्धों को नमस्कार हो, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, [illegible] आदि आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरों से [illegible] हैं, उन आचार्यों को नमस्कार हो, जो आगमादि ज्ञान [illegible]

ाप्ट व्याख्याता हैं और जिनके सान्निध्य में रहकर दूसरे
ायन करते हैं, उन उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में
ने भी सत्पुरुष हैं, उन सभी साधुओं को नमस्कार हो, चाहे
कसी जाति, धर्म, मत या तीर्थ से संबंधित हो। कहना न
ा कि नमस्कार मंत्र का यह गुणनिष्ठ आधार जैन दर्शन
उदारचेता सार्वजनीन भावना का मेरुदण्ड है।

(३) जैन दर्शन ने आत्म-विकास अर्थात् मुक्ति को सम्प्रदाय
ाथ नहीं वल्कि धर्म के साथ जोड़ा है। महावीर ने कहा—
ो भी परम्परा या सम्प्रदाय से दीक्षित, किसी भी लिंग में
हो या पुरुष, किसी भी वेश में साधु हो या गृहस्थ, व्यक्ति
ा पूर्ण विकास कर सकता है। उसके लिये यह आवश्यक
कि वह महावीर द्वारा स्थापित धर्म-संघ में ही दीक्षित
। महावीर ने अश्रुत्वा केवली को जिसने कभी भी धर्म को
भी नहीं, परन्तु चित्त की निर्मलता के कारण, केवल ज्ञान
कक्षा तक पहुंचाया है। पन्द्रह प्रकार के सिद्धों में अन्य लिंग
: प्रत्येक बुद्ध सिद्धों को जो किसी सम्प्रदाय या धार्मिक
परा से प्रेरित होकर नहीं, वल्कि अपने ज्ञान से प्रबुद्ध होते
सम्मिलित कर महावीर ने साम्प्रदायिकता की निस्सारता
कर दी है।

वस्तुतः धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म के सत्य से साक्षात्कार
ने की तटस्थ वृत्ति से है। निरपेक्षता अर्थात् अपने लगाव
दूसरों के द्वेष भाव के परे रहने की स्थिति। इसी अर्थ में
दर्शन में धर्म की विवेचना करते हुए वस्तु के स्वभाव को
कहा है। जव महावीर से पूछा गया कि आप
व और शाश्वत धर्म कहते हैं वह कौनसा है?

ाज संसार में जो तनाव और द्वन्द्व है वह दूसरों के दृष्टि-
को न समझने या विपर्यय रूप से समझने के कारण है।
अनेकान्तवाद के आलोक में सभी व्यक्ति और राष्ट्र
ा करने लग जायें तो झगड़े की जड़ न रहे। मानव-
त के रक्षण और प्रसार में जैन धर्म की यह देन अत्यन्त
पूर्ण है।

ाचार-समन्वय की दिशा में मुनि-धर्म और गृहस्थ धर्म की
था दी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामंजस्य किया गया
ान और क्रिया का, स्वाध्याय और सामायिक का सन्तुलन
लिये आवश्यक माना गया है। मुनिधर्म के लिये महाव्रतों
रेपालन का विधान है। वहां सर्वथा-प्रकारेण हिंसा, झूठ,
, मैथुन और परिग्रह के त्याग की बात कही गई है।
र धर्म में अणुव्रतों की व्यवस्था दी गई है, जहां यथाशक्य
ाचार-नियमों का पालन अभिप्रेत है। प्रतिमाधारी श्रावक
ास्थाश्रमी की तरह और साधु संन्यासाश्रमी की तरह
जा सकता है।

ांस्कृतिक एकता की दृष्टि से जैन धर्म का मूल्यांकन करते
यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उसने सम्प्रदायवाद,
वाद, प्रान्तीयतावाद, आदि सभी मतभेदों को त्याग कर
-देवता को बड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है।
ान्यत: धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते
उन्हीं दायरों में वह धर्म बँधा हुआ रहता है पर जैन धर्म
दृष्टि से किसी जनपद या प्रान्त विशेष में ही बँधा हुआ
रहा। उसने भारत के किसी एक भाग विशेष को ही
ी श्रद्धा का, साधना का और चिन्तना का क्षेत्र नहीं

बनाया। वह सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना मानकर चला। धर्म का प्रचार करने वाले विभिन्न तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली, आदि अलग-अलग रही हैं। भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए तो उनका साधना क्षेत्र व निर्वाण स्थल मगध (दक्षिण बिहार) रहा। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म तो वाराणसी में हुआ पर उनका निर्वाण स्थल बना सम्मेतशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या में जन्मे, पर उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत और भगवान् अरिष्टनेमि का कर्म व धर्म क्षेत्र रहा गुजरात-सौराष्ट्र। दक्षिण भारत में इसके प्रचार-प्रसार का सम्बन्ध भद्रबाहु से जुड़ा हुआ है। कहा जाता है कि ३०० ई० पूर्व के लगभग जब उत्तर भारत में द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़ा तब उसके निवारणार्थ श्रुतकेवली भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त मौर्य व अन्य मुनियों तथा श्रावकों के साथ कर्नाटक में जाकर कल्वप्पु (वर्तमान श्रवण बेलगोल) में बसे। लगता है यहां इसके पूर्व भी जैन धर्म का विशेष प्रभाव था। इसी कारण यहां भद्रबाहु को अनुकूलता रही। यहीं से भद्रबाहु ने अपने साथी मुनि विशाख को तमिल प्रदेश भेजा। वर्ण व्यवस्था के दुष्परिणाम से पीड़ित तमिलनाडु जैन धर्म के सर्वजाति समभाव सिद्धान्त से अत्यन्त प्रभावित हुआ और वहां उसका खूब प्रचार-प्रसार हुआ। तिरुवल्लुवर का 'तिरुकुरल' तमिलवेद के रूप में समादृत हुआ। इसमें १३३० कुरलों के माध्यम से धर्म, अर्थ और काम की सम्यक् व्याख्या की गई है। आन्ध्रप्रदेश भी जैन धर्म से प्रभावित रहा। प्रसिद्ध आचार्य कालक पैठन के राजा के गुरु थे। इस प्रकार देश की चप्पा-चप्पा भूमि इस धर्म की श्रद्धा और शक्ति का आधार बनी।

[illegible] आगमों में [illegible] श्रमण [illegible] उपमाओं से [illegible] किया गया है :—

उरग-गिरि-जलण-सागर
नहतल-तरुगण-समो य जो होई।
भमर-मिय-धरणि-जलरुह
रवि-पवण समो य सो समणो॥

अर्थात् जो सर्प, पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्षपंक्ति, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान होता है, वह श्रमण कहलाता है।

ये सब उपमायें साभिप्राय दी गई हैं। सर्प की भांति ये साधु भी अपना कोई घर (बिल) नहीं बनाते। पर्वत की भांति ये परीषहों और उपसर्गों की आंधी से डोलायमान नहीं होते। अग्नि की भांति ज्ञान रूपी ईन्धन से ये तृप्त नहीं होते। समुद्र की भांति अथाह ज्ञान को प्राप्त कर भी ये तीर्थंकर की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। आकाश की भांति ये स्वाश्रयी-स्वावलम्बी होते हैं किसी के अवलम्बन पर नहीं टिकते। वृक्ष की भांति समभाव पूर्वक दुःख-सुख को सहन करते हैं। भ्रमर की भांति किसी को बिना पीड़ा पहुंचाये शरीर-रक्षण के लिये आहार ग्रहण करते हैं। मृग की भांति पापकारी प्रवृत्तियों के सिंह से दूर रहते हैं। पृथ्वी की भांति, शीत, ताप, छेदन, भेदन आदि कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते हैं। कमल की भांति वासना के कीचड़ और वैभव के जल से अलिप्त रहते हैं। सूर्य की भांति स्वसाधना एवं लोकोपदेशना के द्वारा अज्ञानान्धकार नष्ट करते हैं। पवन की भांति

सर्वत्र अप्रतिबद्ध रूप से विचरण करते हैं। ऐसे श्रमणों का वैयक्तिक स्वार्थ हो ही क्या सकता है?

ये श्रमण पूर्ण अहिंसक होते हैं। षट्काय। (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) जीवों की रक्षा करते हैं। न किसी को मारते हैं, न किसी को मारने की प्रेरणा देते हैं और न जो प्राणियों का वध करते हैं, न उनकी अनुमोदना करते हैं। इनका यह अहिंसा प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म और गंभीर होता है।

ये अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी उपासक होते हैं। किसी की वस्तु बिना पूछे नहीं उठाते। कामिनी और कंचन के सर्वथा त्यागी होते हैं। आवश्यकता से भी कम वस्तुओं का सेवन करते हैं। संग्रह करना तो इन्होंने सीखा ही नहीं। ये मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का वध नहीं करते। हथियार उठाकर किसी अत्याचारी, अन्यायी राजा का नाश नहीं करते, लेकिन इससे उनके लोक संग्रही रूप में कोई कमी नहीं आती। भावना की दृष्टि से तो उनमें और वैशिष्ट्य आता है। ये श्रमण पापियों को नष्ट कर उनको मौत के घाट नहीं उतारते वरन् उन्हें आत्मबोध और उपदेश देकर सही मार्ग पर लाते हैं। ये पापी को मारने में नहीं, उसे सुधारने में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि महावीर ने विषदृष्टि सर्प चण्डकौशिक को मारा नहीं वरन् अपने प्राणों को खतरे में डाल कर, उसे उसके आत्मस्वरूप से परिचित कराया। बस फिर क्या था? वह विष से अमृत बन गया। लोक-कल्याण की यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और गहरी है।

इनकी दैनिक चर्या भी बड़ी पवित्र होती है। दिन-रात वे स्वाध्याय, मनन-चिन्तन, लेखन और प्रवचन आदि में लगे रहते हैं। सामान्यतः वे प्रतिदिन संसार के प्राणियों को धर्मबोध देकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। इनका समूचा जीवन लोक-कल्याण में ही लगा रहता है। इस लोकसेवा के लिये वे किसी से कुछ नहीं लेते।

श्रमण धर्म की यह आचारनिष्ठ दैनन्दिनचर्या इस बात का प्रबल प्रमाण है कि ये श्रमण सच्चे अर्थों में लोक-रक्षक और लोकसेवी हैं। यदि आपत्काल में अपनी मर्यादाओं से तनिक भी इधर-उधर होना पड़ता है तो उसके लिये भी वे दण्ड लेते

हैं, व्रत-प्रत्याख्यान करते हैं। इतना ही नहीं जब कभी अपनी साधना में कोई बाधा आती है तो उनकी निवृत्ति के लिये परीषह और उपसर्ग आदि की सेवना करते हैं। मैं नहीं कह सकता, इससे अधिक आचरण की पवित्रता, जीवन की निर्मलता और लक्ष्य की सार्वजनीनता और किस लोक-संग्रहक की होगी ?

सामान्यत: यह कहा जाता है कि जैनधर्म ने संसार को दु:खमूलक बताकर निराशा की भावना फैलाई है, जीवन में संयम और विराग की अधिकता पर बल देकर उसकी अनुराग भावना और कला प्रेम को कुंठित किया है। पर यह कथन साधार नहीं है, भ्रांतिमूलक है। यह ठीक है कि जैन धर्म ने संसार को दु:खमूलक माना, पर किसलिये ? अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिये, शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिये। यदि जैन धर्म संसार को दु:खपूर्ण मान कर ही रुक जाता, सुख प्राप्ति की खोज नहीं करता, उसके लिये साधना-मार्ग की व्यवस्था नहीं देता तो हम उसे निराशावादी कह सकते थे, पर उसमें तो मानव को महात्मा बनाने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की आस्था का बीज छिपा हुआ है। देववाद के नाम पर अपने को असह्य और निर्बल समझी जाने वाली जनता को किसने आत्म-जागृति का सन्देश दिया ? किसने उसके हृदय में छिपे हुये पुरुषार्थ को जगाया ? किसने उसे अपने भाग्य का विधाता बनाया ? जैन धर्म की यह विचारधारा युगों बाद आज भी बुद्धिजीवियों की धरोहर बन रही है, संस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर रही है।

— —ना भी कि जैन धर्म निरा निवृत्तिमूलक है, ठीक वन के विधान पक्ष को भी उसने महत्व दिया है।

श्रद्धेय महापुरुषों, प्रभावशाली मुनि-आचार्यों और विशिष्ट श्रावकों तथा प्रेरणादायी चरित्रों पर भी इतिहास की संवेदना के धरातल से जीवनी परक साहित्य लिखा जाता रहा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन गौरव-गान, आराध्य के प्रति भक्ति-भाव, सिद्धान्त-निरूपण, व्यावहारिक ज्ञान, चरित्र-गठन, समाज-सुधार, राष्ट्रीय-जागरण, लोक-मंगल और विश्व-जनीन भावों की स्फुरणा पैदा करने की भावना जैन साहित्य निर्माण में मूल प्रेरणा और कारक रही है।

साहित्य-रक्षण के प्रयत्न :

जैन साहित्य के मूल ग्रन्थ आगम हैं जो 'द्वादशांगी' कहे जाते हैं। जैन मान्यतानुसार तीर्थंकर अपनी देशना में जो अभिव्यक्त करते हैं, उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ अपनी शैली में उन्हें सूत्रबद्ध करते हैं। वे ही बारह अंग प्रत्येक तीर्थंकर के शासन-काल में 'द्वादशांगी' सूत्र के रूप में प्रचलित एवं मान्य होते हैं। 'द्वादशांगी' का 'गणिपिटक' के नाम से भी उल्लेख किया गया है। इस मान्यता के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी काल के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के दिन जो प्रथम उपदेश इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को दिया गया, वह "द्वादशांगी" के रूप में सूत्रबद्ध किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का तो आज से बहुत समय पहले विच्छेद हो गया। आज जो एकादशांगी उपलब्ध है वह आर्य सुधर्मा की वाचना का ही परिणाम है।

समय-समय पर दीर्घकाल के दुर्भिक्ष आदि दैवी-प्रकोप के कारण श्रमण वर्ग एकादशांगी के पाठों का स्मरण, चिन्तन,

मनन आदि नहीं कर सका, परिणाम स्वरूप सूत्रों के अनेक पाठ विस्मृत होने लगे। अतः अंग शास्त्रों की रक्षा हेतु वीर निर्वाण संवत् 160 में स्थूलभद्र के तत्वावधान में पाटलिपुत्र में प्रथम आगम वाचना हुई। फलस्वरूप विस्मृत पाठों को यथातथ्य रूपेण संकलित कर विनष्ट होने से बचा लिया गया।

वीर निर्वाण संवत् 830 से 840 के बीच विषम स्थिति होने से फिर आगम-विच्छेद की स्थिति उत्पन्न हो गई अतः स्कन्दिलाचार्य के तत्वावधान में मथुरा में उत्तर भारत के श्रमणों की दूसरी वाचना हुई, जिसमें जिस-जिस स्थविर को जो-जो श्रुत पाठ स्मरण था, उसे सुन-सुनकर आगमों के पाठ को सुनिश्चित किया गया। मथुरा में होने के कारण यह वाचना माथुरी वाचना के नाम से भी प्रसिद्ध है। ठीक इसी समय नागार्जुन ने दक्षिणापथ के श्रमणों को एकत्र कर वल्लभी में वाचना की। इसके 150 वर्ष बाद वीर निर्वाण संवत् 980 में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में वल्लभी में तीसरी वाचना हुई जिसमें शास्त्र लिपिबद्ध किये गये। कहा जाता है कि समय की विषमता, मानसिक दुर्बलता और मेधा की मन्दता आदि कारणों से जब सूत्रार्थ का ग्रहण एवं परावर्तन कम हो गया, तो देवर्द्धि ने शास्त्रों को लिपिबद्ध करने का निर्णय किया। इसके पूर्व सामान्यतः शास्त्र श्रुति परम्परा से ही सुरक्षित थे। देवर्द्धि क्षमाश्रमण के प्रयत्नों से ही शास्त्र पहली बार व्यवस्थित रूप में लिपिबद्ध किये गये। दिगम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण संवत् 683 में ही सम्पूर्ण द्वादशांगी विलुप्त हो गई।

जैन धर्म में स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप का अंग माना

गया है। स्वाध्याय के लिए ग्रन्थों का होना आवश्यक है। अतः नये-नये ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ उनकी सुरक्षा करना भी धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। मुद्रण के आविष्कार से पूर्व ग्रन्थ पांडुलिपियों के रूप में ही सुरक्षित रहते थे उनकी सुरक्षा के लिए सन्तों की प्रेरणा से विभिन्न स्थानों पर ज्ञान भण्डार स्थापित किये जाते रहे। आज जो कुछ प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य उपलब्ध है, वह इन्हीं ज्ञान भण्डारों की देन है। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की एक से अधिक प्रतिलिपियां करायी जाती थीं। ग्रन्थों का यह प्रतिलिपिकरण कार्य श्रुत-सेवा का अंग बन गया था। विशेष धार्मिक अवसरों पर यथा श्रुत-पंचमी, ज्ञान पंचमी पर महत्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपियां पूर्ण कर आचार्यों और ज्ञान भण्डारों को समर्पित की जाती थीं। प्रतिलिपिकरण का यह कार्य सन्तों और सतियों द्वारा भी सम्पन्न होता रहा।

साहित्य-रक्षण में जैन समाज की बड़ी उदार दृष्टि रही है। गुणग्राहक होने से जहां भी जीवन-उन्नायक सामग्री मिलती, जैन संत उन्हें लिख लेते। इस प्रकार एक ही गुटके में विभिन्न लेखकों और विविध विषयों की ज्ञान वर्धक, आत्मोत्कर्षक, जीवनोपयोगी सामग्री संचित हो जाती। ऐसे अनेक गुटके आज भी विभिन्न ज्ञान भण्डारों में संग्रहीत हैं।

जैन सन्त अपने प्रवचनों में सामान्यतः नैतिक शिक्षण के माध्यम से, सही ढंग से जीने की कला सिखाते हैं। यही कारण है कि उनके प्रवचनों में जैन कथाओं के साथ-साथ अन्य धर्मों तथा लोक-जीवन की विविध कथायें, दृष्टान्त और उदाहरण यथाप्रसंग आते रहते हैं। ठीक यही उदार भावना ग्रन्थों के

क्षरण और प्रतिलिपिकरण में रही है। इसका सुखद परि-
म यह हुआ कि जैन ज्ञान भण्डारों में धर्म तथा धर्मेत्तर
ायों के भी कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ बड़ी संख्या में सुरक्षित
नते हैं। राजस्थान इस दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यावान प्रदेश है।
दी के आदिकाल की अधिकांश सामग्री यहां के जैन ज्ञान
डारों से ही प्राप्त हुई।

साहित्य का महत्त्व :

जैन साहित्य का निर्माण यद्यपि आध्यात्मिक भावना से
ित होकर किया गया है पर वह वर्तमान सामाजिक जीवन
कटा हुआ नहीं है। जैन साहित्य के निर्माता जन सामान्य के
वक निकट होने के कारण असामयिक घटनाओं, धारणाओं
र विचारणाओं को यथार्थ अभिव्यक्ति दे पाये हैं। इस दृष्टि
जैन साहित्य का महत्त्व केवल व्यक्ति के नैतिक सम्बन्धों की
ष्ट से ही नहीं है वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन की
ष्ट से भी है।

आज हमें अपने देश का जो इतिहास पढ़ने को मिलता है
मुख्यतः राजा-महाराजाओं और सम्राटों के वंशानुक्रमों का
तिहास है। उसमें राजनैतिक घटना-चक्रों, युद्धों और संधियों
ा प्रमुखता है। उसके समानान्तर चलने वाले धार्मिक और
ामाजिक आन्दोलनों का विशेष महत्व नहीं दिया गया है और
ससे सम्बद्ध स्रोतों का इतिहास लेखन में सावधानीपूर्वक
हुत कम उपयोग किया गया है। जैन साहित्य इस दृष्टि से
त्यन्त मूल्यवान है। जैन सन्त ग्रामानुग्राम पादविहारी होने
े कारण क्षेत्र-विशेष में घटित होने वाली छोटी सी छोटी
[illegible] में लिखने के अभ्यासी रहे हैं। समाज के

[illegible] है । स्वाध्याय के लिए ग्रन्थों की प्राप्ति आवश्यक है । अतः [illegible] ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ उनकी सुरक्षा करना भी धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया । मुद्रण के आविष्कार से पूर्व [illegible] हस्तलिखित [illegible] सुरक्षित रहते थे । इनकी सुरक्षा के लिए मन्दिरों [illegible] विभिन्न स्थानों पर ज्ञान भण्डार स्थापित किये जाते रहे । आज जो कुछ प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य उपलब्ध है, वह इन्हीं ज्ञान भण्डारों की देन है । महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की एक से अधिक प्रतिलिपियाँ करायी जाती थी । ग्रन्थों का यह प्रतिलिपिकरण कार्य श्रुत-सेवा का अंग बन गया था । विशेष धार्मिक अवसरों पर यथा श्रुत-पंचमी, ज्ञान पंचमी पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपियां पूर्ण कर आचार्यों और ज्ञान भण्डारों को समर्पित की जाती थी । प्रतिलिपिकरण का यह कार्य सन्तों और यतियों द्वारा भी सम्पन्न होता रहा ।

साहित्य-रक्षण में जैन समाज की बड़ी उदार दृष्टि रही है । गुणग्राहक होने से जहां भी जीवन-उन्नायक सामग्री मिलती, जैन संत उन्हें लिख लेते । इस प्रकार एक ही गुटके में विभिन्न लेखकों और विविध विषयों की ज्ञान वर्धक, आत्मोत्कर्षक, जीवनोपयोगी सामग्री संचित हो जाती । ऐसे अनेक गुटके आज भी विभिन्न ज्ञान भण्डारों में संगृहीत हैं ।

जैन सन्त अपने प्रवचनों में सामान्यतः नैतिक शिक्षण के माध्यम से, सही ढंग से जीने की कला सिखाते हैं । यही कारण है कि उनके प्रवचनों में जैन कथाओं के साथ-साथ अन्य धर्मों तथा लोक-जीवन की विविध कथायें, दृष्टान्त और उदाहरण यथाप्रसंग आते रहते हैं । ठीक यही उदार भावना ग्रन्थों के

ण और प्रतिलिपिकरण में रही है। इसका सुखद परि-
यह हुआ कि जैन ज्ञान भण्डारों में धर्म तथा धर्मेत्तर
ों के भी कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ बड़ी संख्या में सुरक्षित
े हैं। राजस्थान इस दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यावान प्रदेश है।
के आदिकाल की अधिकांश सामग्री यहां के जैन ज्ञान
ारों से ही प्राप्त हुई।

साहित्य का महत्त्व :

जैन साहित्य का निर्माण यद्यपि आध्यात्मिक भावना से
त होकर किया गया है पर वह वर्तमान सामाजिक जीवन
टा हुआ नहीं है। जैन साहित्य के निर्माता जन सामान्य के
क निकट होने के कारण असामयिक घटनाओं, धारणाओं
विचारणाओं को यथार्थ अभिव्यक्ति दे पाये हैं। इस दृष्टि
ैन साहित्य का महत्त्व केवल व्यक्ति के नैतिक सम्बन्धों की
से ही नहीं है वरन् सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन की
से भी है।

आज हमें अपने देश का जो इतिहास पढ़ने को मिलता है
मुख्यतः राजा-महाराजाओं और सम्राटों के वंशानुक्रमों का
तहास है। उसमें राजनैतिक घटना-चक्रों, युद्धों और संधियों
प्रमुखता है। उसके समानान्तर चलने वाले धार्मिक और
माजिक आन्दोलनों का विशेष महत्व नहीं दिया गया है और
से सम्बद्ध स्रोतों का इतिहास लेखन में सावधानीपूर्वक
त कम उपयोग किया गया है। जैन साहित्य इस दृष्टि से
त्यन्त मूल्यवान है। जैन सन्त ग्रामानुग्राम पादविहारी होने
कारण क्षेत्र-विशेष में घटित होने वाली छोटी सी छोटी
... को भी सत्य रूप में लिखने के अभ्यासी रहे हैं। समाज के

विभिन्न वर्गों से निकटता का सम्पर्क होने के कारण वे तत्का
लीन जन-जीवन की चिन्ताधारा को सही परिप्रेक्ष्य
समझने और पकड़ने में सफल रहे हैं। इस प्रक्रिया से गुजर
के कारण उनके साहित्य में देश के सामाजिक और सांस्कृति
इतिहास-लेखन की प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है।

इतिहास-लेखन में जिस तटस्थ वृत्ति, व्यापक जीवन
नुभूति और प्रामाणिकता की अपेक्षा होती है, वह जैन स
में सहज रूप से प्राप्य है। वे सच्चे अर्थों में लोक-प्रतिनिधि
न उन्हें किसी के प्रति लगाव है न दुराव। निन्दा और स्तु
से परे जीवन की जो सहज प्रकृति और संस्कृति है, उसे अ
व्यंजित करने में ही ये लगे रहे। इनका साहित्य एक ऐ
निर्मल दर्पण है जिसमें हमारे विविध आचार-व्यवहार, सिद्धा
संस्कार रीति-नीति, वाणिज्य-व्यवसाय, धर्म-कर्म, शिल्प-क
पर्व-उत्सव, तौर-तरीके, नियम-कानून आदि यथारूप प्र
बिम्बित हैं।

जहां तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को जा
और समझने का जैन साहित्य सच्चा बेरोमीटर है, वहां जी
की पवित्रता, नैतिक-मर्यादा और उदात्त जीवन-आदर्शों
व्याख्याता होने के कारण यह साहित्य समाज के लिए सच
पथप्रणेता और दीपक भी है। इसका अध्येता निराशा में आ
का सम्बल पाकर, अन्धकार से प्रकाश की ओर चरण बढ़ा
है। काल को कला में, मृत्यु को मंगल में और उष्मा को प्रका
में परिणत करने की क्षमता है—इस साहित्य में।

जैन साहित्य का भाषा शास्त्र के विकासात्मक अध्यय

दृष्टि से विशेष महत्व है। भाषा की सहजता और लोक-मि की पकड़ के कारण इस साहित्य में जनपदीय भाषाओं के रूप सुरक्षित हैं। इनके आधार पर भारतीय भाषाओं के तिहासिक विकास और पारम्परिक सांस्कृतिक एकता के सूत्र आसानी से पकड़े जा सकते हैं।

जैन साहित्यकार मुख्यतः आत्मधर्मिता के उद्गाता होकर प्रयोगधर्मी रहे हैं। अपने प्रयोग में क्रान्तिवाही होकर भी अपनी मिट्टी और जलवायु से जुड़े हुए हैं। अतः उनके साहित्य भारतीय अध्यात्म-धारा की प्रवहमानता देखी जा सकती है। इस दृष्टि से भारतीय साहित्य की विभिन्न वृत्तियों और धाराओं को इससे पुष्टता और गति मिली है। विभिन्न भाषाओं के साहित्य के इतिहासों को भी जैन साहित्य कथ्य और शिल्प ने काफी दूर तक प्रभावित किया है। हिन्दी साहित्य की आध्यात्मिक चेतना को आज तक जागृत और क्रमबद्ध रखने में जैन साहित्य की दार्शनिक संवेदना की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

जैन साहित्य की विशेषताएं :

ऊपर हमने जैनदर्शन के जिन सामाजिक-चेतना, सांस्कृतिक-समन्वय और लोक-संग्राहक रूप के तत्वों की चर्चा की है, वे प्रकारान्तर से जैन साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं अतः यहां जैन साहित्य की विचार भूमि पर विचार न करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख किया जाता है—

जैन साहित्य विविध और विशाल है। सामान्यतः यह

भाषा के क्षेत्र में ही नहीं, छन्द और संगीत के क्षेत्र में भी यह सहजता देखने को मिलती है। शास्त्रीय छन्दों के अतिरिक्त जैन कवियों ने लोकरुचि को ध्यान में रखकर कई नये छन्द निर्मित किये और उनमें अपनी रचनाएं लिखीं। इनके ये छन्द प्रधानतः गेय रहे हैं। संगीत को शास्त्रीयता से मुक्त करने के लिए इन कवियों ने विभिन्न लोक-देशियों को अपनाया। प्रयुक्त ढालों में जो तर्जें दी गयी हैं, वे एक प्रकार की लोक-देशियां हैं। इनके प्रयोग से भारत का पुरातन लोक संगीत सुरक्षित कर सका।

जैन कवियों ने काव्य-रूपों की परम्परा को संकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर व्यापकता का मुक्त क्षेत्र प्रदान किया। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध-मुक्तक की चलती आई परम्परा को इन कवियों ने विभिन्न रूपों में विकसित कर, काव्यशास्त्रीय जगत् में एक क्रान्ति सी मचा दी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इन कवियों ने प्रबन्ध और मुक्तक के बीच काव्य-रूपों के कई नये स्तर निर्मित किये।

जैन कवियों ने नवीन काव्य-रूपों के निर्माण के साथ-साथ प्रचलित काव्य-रूपों को नयी भावभूमि और मौलिक अर्थवत्ता भी दी। इन सब में उनकी व्यापक उदार दृष्टि ही काम करती रही है। उदाहरण के लिए, वेलि, बारहमासा, विवाहलो, रासो, चौपाई, सन्धि आदि काव्य-रूपों के स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है। 'वेलि' संज्ञक काव्य डिंगल-शैली में सामान्यतः वेलियो छन्द में ही लिखा गया है, पर जैन कवियों ने वेलि काव्य को छन्द विशेष की इस सीमा से बाहर निकाल कर वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टि से व्यापकता प्रदान की।

[illegible]
विकास हुआ।

पद्य के सौ से अधिक काव्य-रूप देखने को मिलते हैं। सुविधा की दृष्टि से इनके चार वर्ग किए जा सकते हैं—चरित्र काव्य, उत्सव काव्य, नीति काव्य और स्तुति काव्य। चरित काव्य में सामान्यतः किसी धार्मिक पुरुष, तीर्थंकर आदि की कथा कही गई है। ये काव्य, रास, चौपाई, ढाल, पवाड़ा, संधि, चर्चरी प्रबन्ध, चरित, सम्बन्ध, आख्यानक, कथा आदि रूपों में लिखे गए हैं। उत्सव काव्य विभिन्न पर्वों और ऋतु विशेष के बदलते हुए वातावरण के उल्लास और विनोद को चित्रित करते हैं। फागु, धमाल, बारहमासा, विवाहलो, धवल, मंगल आदि काव्यरूप इसी प्रकार के हैं। इनमें सामान्यतः

लौकिक रीति-नीति को माध्यम बनाकर उनके लोकोत्तर रूप को ध्वनित किया गया है। नीति-काव्य जीवनपयोगी उपदेशों से सम्बन्धित है। इसमें सदाचार-पालन, कषाय-त्याग, व्यसन-त्याग, ब्रह्मचर्य, व्रत, पच्चक्खाण, भावना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, दान, दया, संयम आदि का माहात्म्य तथा प्रभाव वर्णित है। संवाद, कक्का, मातृका, बावनी, छत्तीसी, कुलक, हीयाली आदि काव्यरूप इसी प्रकार के हैं। स्तुतिकाव्य महापुरुषों और तीर्थंकरों की स्तुति से सम्बन्धित हैं। स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय, विनति, नमस्कार चौबीसी, बीसी आदि काव्यरूप स्तवनात्मक ही हैं।

गद्य साहित्य के भी स्थूल रूप से दो भाग किए जा सकते हैं। मौलिक गद्य-सृजन और टीका, अनुवाद आदि। मौलिक गद्य सृजन धार्मिक, ऐतिहासिक, कलात्मक आदि विविध रूपों में मिलता है। धार्मिक गद्य में सामान्यतः कथात्मक और तात्विक गद्य के ही दर्शन होते हैं। ऐतिहासिक गद्य गुर्वावली, पट्टावली, वंशावली, उत्पत्तिग्रन्थ, दफ्तर, बही, टिप्पण आदि रूपों में लिखा गया। इन रूपों में इतिहास-धर्म की पूरी-पूरी रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। आचार्यों आदि की प्रशस्ति यहां अवश्य है पर वह ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना नहीं करती। कलात्मक गद्य वचनिका, दवावैत, वात, सिलोका, वर्णक, संस्मरण आदि रूपों में लिखा गया। अनुप्रासात्मक झंकारमयी शैली और अन्तर्तुकात्मकता इस गद्य की अपनी विशेषता है। आगमों में निहित दर्शन और तत्त्व को जनोपयोगी बनाने की दृष्टि से प्रारम्भ में निर्युक्तियां और भाष्य लिखे गए। पर ये पद्य में थे। बाद में चलकर इन्हीं पर

चूर्णियां लिखि गईं। ये गद्य में थीं। निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य प्राकृत और प्राकृत-संस्कृत मिश्रित में ही मिलता है। आगे चलकर टीकायुग आता है। ये टीकायें आगमों पर ही नहीं लिखी गईं वरन् निर्युक्तियों और भाष्यों पर भी लिखी गईं। ये टीकायें प्रारम्भ में संस्कृत में और बाद में लोक-कल्याण की भावना से सामान्यतः पुरानी हिन्दी में लिखी मिलती हैं। इनके दो रूप विशेष प्रचलित हैं। टब्बा और बालावबोध। टब्बा संक्षिप्त रूप है जिसमें शब्दों के अर्थ ऊपर, नीचे या पार्श्व में लिख दिये जाते हैं पर बालवबोध में व्याख्यात्मक समीक्षा के दर्शन होते हैं। यहां निहित सिद्धांत को कथा और दृष्टांत दे-देकर इस प्रकार समझाया जाता है कि बालक जैसा मन्द बुद्धि वाला भी उसके सार को ग्रहण कर सके। पद्य और गद्य के ये विभिन्न साहित्य रूप जैन साहित्य की विशिष्ट देन हैं।

जैन साहित्यकार सामान्यतः साधक और सन्त रहे हैं। साहित्य उनके लिए विशुद्ध कला की वस्तु कभी नहीं रहा, वह धार्मिक आचार की पवित्रता और साधन का एक अंग बन कर आया है। यही कारण है कि अभिव्यक्ति में सरलता, सुबोधता और सहजता का सदा आग्रह रहा है। जब अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषायें विकसित हुई तो जैन साहित्यकार अपनी बात इन जनपदीय भाषाओं में सहज भाव में कहने लगे। यह भाषागत उदारता उनकी प्रतिभा पर आवरण नहीं डालती वरन् भाषाओं के ऐतिहासिक विकासक्रम को सुरक्षित रखे हुए है।

जैन साहित्यकार साहित्य को कलाबाजी नहीं समझते।

वे उसे अकृत्रिम रूप से हृदय को प्रभावित करने वाली आनंद-मयी कला के रूप में देखते हैं। जहां उन्होंने लोक भाषा का प्रयोग किया वहां भाषा को सशक्त बनाने वाले अधिकांश उपकरण भी लोक-जीवन से ही चुने हैं। छन्दों में तो इतना वैविध्य है कि सभी धर्मों, परम्पराओं और रीति-रिवाजों से वे सीधे खींचे चले आ रहे हैं। ढालों के रूप में, जो देशियां अपनाई हैं, वे इसकी प्रतीक हैं। पर इससे यह न समझा जाये कि उनका काव्य-शास्त्रीय ज्ञान अपूर्ण था या बिल्कुल नहीं था। ऐसे कवि भी जैन जगत् में कई हो गए हैं जो शास्त्रीय परम्परा में सर्वोच्च ठहरते हैं, आलंकारिक चमत्कारिता, शब्दक्रीड़ा और छन्दशास्त्रीय मर्यादा-पालन में जो होड़ लेते प्रतीत होते हैं, पर यह प्रवृत्ति जैन साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति नहीं है।

जैन साहित्य में जो नायक आए हैं उनके दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। मूर्त नायक मानव हैं. अमूर्त नायक मनोवृत्ति विशेष। मूर्त नायक साधारण मानव कम, असाधारण मानव अधिक हैं। यह असाधारणता आरोपित नहीं, अर्जित है। अपने पुरुषार्थ, शक्ति और साधना के बल पर ही ये साधारण मानव विशिष्ट श्रेणी में पहुंच गए हैं। ये पात्र सामान्यत: संस्कारवश या किसी निमित्त कारण से विरक्त हो जाते हैं और प्रव्रज्या अंगीकार कर लेते हैं। दीक्षित होने के बाद पूर्व जन्म के कर्म उदित होकर कभी उपसर्ग बनकर, कभी परीषह बनकर सामने आते हैं पर ये अपनी साधना से विचलित नहीं होते। परीक्षा के कठोर आघात इनकी आत्मा को और अधिक मजबूत तथा इनकी साधना को और अधिक तेजस्वी बना देते हैं। प्रतिनायक परास्त होते हैं, पर अन्त तक दुष्ट बनकर नहीं

रहते । उनके जीवन में भी परिवर्तन आता है और वे नायक के [illegible] को [illegible] का [illegible] पात्र [illegible] बनते हैं ।

जैन साहित्य के मूल में आध्यात्मिकता है । यह संघर्ष यहीं मंगल में विश्राम करता है । यहां नायक का अन्त दुखद मृत्यु में नहीं होता । उसे कथा के अन्त में आध्यात्मिक वैभव से सम्पन्न ज्ञान अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त सौन्दर्य का धारक बताया गया है ।

जैन साहित्य में यों तो सभी रस यथावसर अभिव्यंजित हुए हैं पर अंगीरस शान्त रस ही है । प्रायः प्रत्येक कथा-काव्य का अन्त शान्त रसात्मक ही है । इतना सब कुछ होते हुये भी जैन साहित्य में शृङ्गार रस के बड़े भावपूर्ण स्थल और मार्मिक प्रसंग भी देखने को मिलते हैं । विशेषकर विप्रलंभ शृङ्गार के जो चित्र हैं वे बड़े मर्मस्पर्शी और हृदय को गद्‌गद्‌ करने वाले हैं । मिलन के राशि-राशि चित्र वहां देखने को मिलते हैं जहां कवि 'संयमश्री' के विवाह की रचना करता है । यहां जो शृङ्गार है वह रीतिकालीन कवियों के भाव सौंदर्य से तुलना में किसी प्रकार कम नहीं है, पर इसमें मद की सुलाने वाली मादकता नहीं वरन् आत्मा को जागृत करने वाली मनुहार है । शृङ्गार की यह धारा आवेगमयी बनकर, नायक को शान्त रस के समुद्र की गहराई से बहुत दूर तक पैठा देती है ।

राजस्थान की धार्मिक पृष्ठ भूमि :

राजस्थान वीर-भूमि होने के साथ-साथ धर्म-भूमि भी है । शक्ति और भक्ति का सामंजस्य इस प्रदेश की मूल सांस्कृतिक

विशेषता है। यहां के वीर भक्तिभावना से प्रेरित होकर अपनी अद्भुत शौर्यवृत्ति का परिचय देते हुये आत्मोत्सर्ग की ओर बढ़ते रहे, तो यहां के भक्त अपने पुरुषार्थ, साधना और सामर्थ्य के बल पर धर्म को सतेज करते रहे।

राजस्थान में उदार मानववाद के धरातल पर वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, इस्लाम आदि सभी धर्म अपनी-अपनी रंगत के साथ सौहार्दपूर्ण वातावरण में फलते-फूलते रहे। यहां की प्राकृतिक स्थिति और जलवायु ने जीवन के प्रति निस्पृहता अनुरक्ति, कठोरता और कोमलता, संयमशीलता और सरसता का समानान्तर पाठ पढ़ाया। यह जीवन-दृष्टि यहां के धर्म, साहित्य, संगीत और कला में स्पष्ट प्रतिविम्बित है।

प्रारम्भ से ही राजस्थान के जन-जीवन पर धर्म का व्यापक प्रभाव रहा है। प्राचीनकाल से ही यहां यज्ञ की वैदिक परम्परा [illegible]द्यमान रही। दूसरी शताब्दी ईसा के घोसुण्डी शिलालेख [illegible] अश्वमेध यज्ञ सम्पादन का उल्लेख मिलता है। पौराणिक [illegible]र्म के अन्तर्गत विष्णु, शिव, दुर्गा, ब्रह्मा, गणेश, सूर्य आदि [illegible]ी-देवताओं की आराधना के लिये चित्तौड़, ओसियां, पुष्कर, [illegible]हड़, भीनमाल आदि नगरों में समय-समय पर अनेक मन्दिरों [illegible]ा निर्माण हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि यहां [illegible]भिन्न देवी-देवताओं की उपासना प्रचलित रही तथापि [illegible]र्मिक सहिष्णुता की भावना को इससे कोई ठेस नहीं पहुंची। [illegible]र्मिक सहिष्णुता की यह भावना प्रतिहार काल में हिन्दू देव-[illegible]ओं की मूर्तियों के निर्माण में अभिव्यक्त हुई है। बघेरा तथा [illegible]ला से प्राप्त हरिहर की मूर्ति, हर्ष से प्राप्त तीन मुख वाले [illegible] की मूर्ति, झालावाड़ से प्राप्त सूर्यनारायण की मूर्ति,

आम्बानेरी से प्राप्त अर्धनारीश्वर की मूर्ति और पत्रोर मू-जिगम में उत्कीर्ण शिव तथा विष्णु की त्रिमूर्ति धर्म की समन्वयात्मक प्रकृति की सुन्दर प्रतीक है।

राजस्थान में प्राचीन काल से शैव मत का व्यापक प्रसार रहा है। पाशुपत, कापालिक, लकुलीश आदि अनेक शैव सम्प्रदाय राजस्थान में प्रचलित रहे हैं। राजस्थान में शिव की उपासना अनेक नामों से की जाती है, यथा एकलिंग, समिधेश्वर, अचलेश्वर, शम्भु, भवानीपति, पिनाकिन, चन्द्रचूड़ामणि आदि। मेवाड़ के महाराणाओं ने श्री एकलिंगजी को ही राज्य का स्वामी माना और स्वयं उनके दीवान बनकर रहे। नाथ सम्प्रदाय का जोधपुर क्षेत्र में विशेष प्रभाव और सम्मान रहा है। राजस्थान में कई स्थलों पर उनके अखाड़े हैं।

राजस्थान में वैष्णव धर्म का प्राचीनतम उल्लेख दूसरी शताब्दी ई. पूर्व के घोसुण्डी अभिलेख में मिलता है। इस मत के अन्तर्गत कृष्णलीला से संबंधित दृश्य उत्कीर्ण मिलते हैं। कृष्णलीला में कृष्ण चरित्र से संबंधित कई आख्यान तक्षण-कला के माध्यम से भी व्यक्त हुये हैं। कृष्ण भक्ति के साथ राम भक्ति भी राजस्थान में समादृत हुई है। मेवाड़ महाराणा तो राम से अपना वंशक्रम निर्धारित करते हैं।

राजस्थान में शक्ति के रूप में देवी की उपासना का भी प्रचलन रहा है। शक्ति की आराधना, शौर्य, क्रोध और करुणा की भावना से जुड़ी हुई है। अतएव शक्ति की मातृदेवी, लक्ष्मी, सरस्वती, महिषासुरमर्दिनी, दुर्गा, पार्वती, अम्बिका, काली, चण्डिका आदि रूप में स्तुति की गई है। राजस्थान के कई

राजवंश शक्ति को कुलदेवी के रूप में पूजते रहे हैं। बीकानेर के राज परिवार ने करणी माता को, जोधपुर राज परिवार ने नागणेचीजी को, सीसोदियां नरेश ने बाणमाता को और कछवाहों ने अन्नपूर्णा को कुलदेवी स्वीकृत किया।

राजस्थान इस्लाम धर्म के प्रभाव से भी अछूता नहीं रहा। यहां 12वीं शती से इसका विशेष प्रसार हुआ। अजमेर इसका मुख्य केन्द्र बना और यहीं से जालौर, नागौर, मांडल, चित्तौड़ आदि स्थानों में यह फैला। राजस्थान में इसके प्रचारक संतों में मुइनुद्दीन चिश्ती प्रमुख थे।

सम्पूर्ण भारत में मध्ययुग में धर्मसुधार आन्दोलन की जो लहर फैली, उससे राजस्थान भी प्रभावित हुआ और रूढ़िवाद, बाह्य आडम्बर तथा जड़ पूजा के खिलाफ क्रांति चेतना मुख- रित हो उठी। इस नई धार्मिक चेतना ने एक ओर गोगाजी, ाबूजी, तेजाजी जैसे लोकदेवों को अपने प्रतिज्ञापालन, आत्म- लिदान तथा सदाचारनिष्ठ सादगीमय जीवन के कारण सम्मान दान किया तो दूसरी ओर जाम्भोजी, जमनाथजी, दादूजी से विशिष्ट संत पुरुषों को प्रकट किया जिन्होंने धर्म को बाह्या- ार से आत्मशुद्धि और आन्तरिक पवित्रता की ओर मोड़ा। न संतों ने आत्म-साधना और आत्म-कल्याण के सिद्धान्तों ी व्याख्या बोल-चाल की भाषा में की। राजस्थान में नपने वाले ऐसे मुख्य जैनेतर संत सम्प्रदायों की तालिका इस कार है :—

नाम	प्रवर्तक	समय विक्रम संवत्	प्रधान स्थल
1. बिश्नोई सम्प्रदाय	जांभोजी	1508–93	मुकाम (बीकानेर)
2. जसनाथी सम्प्रदाय	जसनाथजी	1539–63	कतरियासर (बीकानेर)
3. निरंजनी सम्प्रदाय	हरिदासजी	1512–95	डीडवाना (नागौर)
4. लाल पंथ	लालदासजी	1597–1705	नगला (अलवर)
5. दादू पंथ या ब्रह्म सम्प्रदाय	दादू	1601–60	नराणा (जयपुर)
6. रामस्नेही : रैणशाखा	दरियावजी	1733–1815	रैण (नागौर)
7. रामस्नेही : सींथल शाखा	हरिरामदासजी	1754–1835	सींथल (बीकानेर)
8. रामस्नेही : खेड़ापा शाखा	रामदासजी	1783–1855	खेड़ापा (जोधपुर)
9. रामस्नेही : शाहपुरा शाखा	रामचरणदासजी	1776–1855	शाहपुरा (भीलवाड़ा)
10. चरणदासजी सम्प्रदाय	चरणदासजी	1760–1839	डेहरा (अलवर)
11. जैहरि सम्प्रदाय	चरणदासजी	1822–1932	रतनगढ़
12. अलखिया सम्प्रदाय	लालगिरि	1860–1925	बीकानेर
13. गूदड़ पंथ	संतदासजी	–1822	दांतड़ा (मेवाड़)
14. भाव पंथ	भावजी	1771–1801	साबला (डूंगरपुर)
15. आई पंथ	आईमाता	1472–1561	बिलाड़ा (जोधपुर)
16. [illegible]	नवलनाथजी	1840–1965	[illegible]

राजस्थान में जैन धर्म :

उपर्युक्त धार्मिक पृष्ठभूमि के समानान्तर ही प्रारम्भ से राजस्थान में जैन धर्म प्रभावी रहा है। भगवान् महावीर के जीवनकाल में ही राजस्थान के कुछ भागों में जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार का ज्ञान परवर्ती जैन साहित्य से होता है। महावीर के मामा एवं लिच्छवी गणतन्त्र के प्रमुख चेटक की ज्येष्ठ पुत्री प्रभावती सिन्धु सौवीर के शासक उदायन को ब्याही गई थी। उदायन जैनमतावलम्बी हो गया था। 'भगवती सूत्र' के अनुसार उसने अपने भांजे केशी को राज्य देकर अन्तिम समय में श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली थी। सामान्यतः सौवीर प्रदेश के अन्तर्गत जैसलमेर और कच्छ के हिस्से भी माने जाते हैं। भीनमाल के 1276 ई. के एक अभिलेख से विदित होता है कि महावीर स्वामी स्वयं श्रीमाल नगर पधारे थे। आबू रोड से 8 किलोमीटर पश्चिम में मुंगस्थल से प्राप्त 1369 ई. के शिलालेख से पता चलता है कि भगवान् महावीर स्वामी स्वयं अर्बुद भूमि पधारे थे, पर ये विवरण बहुत बाद के हैं, अतः इनकी मान्यता संदिग्ध है।

राजस्थान में जैनधर्म के प्रसार का सर्वाधिक ठोस प्रमाण ईसा से पूर्व 5वीं शताब्दी का बड़ली शिलालेख माना जाता है जिसमें वीर निर्वाण संवत् के 84 वें वर्ष का चित्तौड़ के समीप स्थित माझमिका (माध्यमिका) का उल्लेख है। माझमिका जैन धर्म का प्राचीन केन्द्र रही है जहां जैन श्रमण संघ की माध्यमिका शाखा की स्थापना सुहस्ती के द्वितीय शिष्य प्रियग्रन्थ ने की थी। मौर्य युग में चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म के प्रसार के लिये कई प्रयत्न किये। अशोक के पौत्र राजा सम्प्रति ने जैन धर्म के

उन्नयन एवं विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। कहा जाता है कि उसने राजस्थान में कई जैन मन्दिर बनवाये और वीर निर्वाण संवत् 203 में आर्य सुहस्ती के द्वारा घंघाणी में पद्मप्रभु की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी थी।

विक्रम की दूसरी शती में बने मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से अति प्राचीन स्तूप और जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि राजस्थान में उस समय जैन धर्म का अस्तित्व था। केशोरायपाटन में गुप्तकालीन एक जैन मन्दिर के अवशेष से, सिरोही क्षेत्र के वसन्तगढ़ में प्राप्त भगवान् ऋषभदेव की खड्गासन प्रतिमा से, जोधपुर क्षेत्र के ओसिया के महावीर मन्दिर के शिलालेख से, कोटा की समीपवर्ती जैन गुफाओं से, उदयपुर के पास स्थित आयड़ के पार्श्वनाथ मन्दिर और जैसलमेर के लोद्रवा स्थित जिनेश्वरसूरि की प्रेरणा से निर्मित पार्श्वनाथ के मन्दिर से यह स्पष्ट होता है कि राजस्थान में जैन धर्म का प्रचार ही नहीं था वरन् सभी क्षेत्रों में उसका अच्छा प्रभाव भी था।

अजमेर क्षेत्र में भी जैन धर्म का व्यापक प्रभाव रहा। पृथ्वीराज चौहान प्रथम ने बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रणथम्भोर के जैन मन्दिर पर स्वर्ण कलश चढ़ाये थे। यहाँ के राजा अर्णोराज के मन में श्री जिनदत्तसूरि के प्रति विशेष सम्मान का भाव था। जिनदत्तसूरि मरुधरा के कल्पवृक्ष माने गये हैं। इनका स्वर्गवास अजमेर में हुआ। इनके निधन के उपरान्त इनकी पुण्य स्मृति में भारत में स्थान-स्थान पर दादावाड़ियों का निर्माण हुआ।

कुमारपाल के समय में हेमचन्द्र की प्रेरणा से जैन धर्म का विशेष प्रचार हुआ। आबू के जैन मन्दिर, जो अपनी स्थापत्य-कला के लिये विश्व विख्यात हैं, इसी काल में बने। पन्द्रहवीं शती में निर्मित राणकपुर का जैन मंदिर भी भव्य और दर्शनीय है। जयपुर क्षेत्रीय श्री महावीरजी और उदयपुर क्षेत्रीय श्री केसरियानाथजी के मंदिरों ने जैनधर्म की प्रभावना में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। ये तीर्थस्थल सभी धर्मों व वर्गों के लिये श्रद्धा केन्द्र बने हुये हैं। इस क्षेत्र के मीणा और गूजर लोग भगवान् महावीर और ऋषभदेव को अपना परम आराध्य मानते हैं।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि महावीर के निर्वाण के लगभग 600 वर्ष बाद जैन धर्म दो मतों में विभक्त हो गया—दिगम्बर और श्वेताम्बर। जो मत साधुओं की नग्नता का पक्षधर था और उसे ही महावीर का मूल आचार मानता था, वह दिगम्बर कहलाया। यह मूल संघ नाम से भी जाना जाता है और जो मत साधुओं के वस्त्र-पात्र का समर्थन करता था वह श्वेताम्बर कहलाया। आगे चलकर दिगम्बर सम्प्रदाय कई संघों में विभक्त हो गया। जिनमें मुख्य हैं—द्राविड़ संघ, काष्ठ संघ और माथुर संघ। कालान्तर में शुद्धाचारी तपस्वी दिगम्बर मुनियों की संख्या कम हो गई और एक नये भट्टारक वर्ग का उदय हुआ जिसकी साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सेवायें रही हैं। जब भट्टारकों में शिथिलाचार पनपा तो उसके विरुद्ध सत्रहवीं शती में एक नये पंथ का उदय हुआ जो तेरहपंथ कहलाया। इस पंथ में टोडरमल जैसे दार्शनिक विद्वान हुए। श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी आगे चलकर दो भागों में बंट गया—चैत्यवासी और वनवासी। चैत्यवासी उग्रविहार छोड़कर मन्दिरों में रहने लगे। कालान्तर में श्वेता-

जो जयाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, राजस्थानी के महान् साहित्यकार थे। इन्होंने तेरापंथ के लिये कुछ मर्यादायें निश्चित कर मर्यादा महोत्सव का सूत्रपात किया। इस पंथ के वर्तमान नवम् आचार्य श्री तुलसीगणी हैं जिन्होंने अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से नैतिक जागरण की दिशा में विशेष पहल की है।

राजस्थान में जैन धर्म के विकास और प्रसार में इन सभी जैन मतों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन धर्म के विभिन्न आचार्यों, सन्तों और श्रावकों का जन साधारण के साथ ही नहीं वरन् यहां के राजा-महाराजाओं के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। प्रभावशाली जैन श्रावक यहां प्रधान, दीवान, सेनापति, सलाहकार और किलेदार जैसे विशिष्ट उच्च पदों पर सैकड़ों की संख्या में रहे हैं।[1] उदयपुर क्षेत्र के नवलखा रामदेव, नवलखा सहणपाल, कर्माशाह, भामाशाह क्रमशः महाराणा लाखा, महाराणा कुम्भा, महाराणा सांगा और महाराणा प्रताप के समय में प्रधान एवं दीवान थे। कुम्भलगढ़ के किलेदार आसाशाह ने बालक राजकुमार उदयसिंह का गुप्तरूप से पालन-पोषण कर अपने अदम्य साहस और स्वामिभक्ति का परिचय दिया था। बीकानेर के वच्छराज, कर्मचंद्र वच्छावत, महाराव हिंदूमल क्रमशः राव बीका, महाराजा रायसिंह एवं महाराजा रत्नसिंह के समय में दीवान थे। बीकानेर के महाराजा रायसिंह, कर्णसिंह, और सूरतसिंह ने क्रमशः जैनाचार्य जिनचन्द्रसूरि, धर्मवर्धन व ज्ञान-

---

1. इस सम्बन्ध में डॉ. देव कोठारी 'देशी रियासतों के शासन प्रबन्ध में जैनियों का सैनिक व राजनीतिक योगदान' लेख विशेष रूप से पठनीय है। 'जिनवाणी' का जैन संस्कृति और राजस्थान, विशेषांक पृ. 307 से 331।

सारजी को बड़ा सम्मान दिया। जोधपुर राज्य के प्रधान व दीवानों में भण्डारी नराजी, भण्डारी मानाजी, मूणोत नैणसी की सेवायें क्रमशः राव जोधा, मोटाराजा उदयसिंह व महाराजा जसवंतसिंह के शासनकाल में विशेष महत्त्वपूर्ण रहीं। [1]जयपुर राज्य के जैन दीवानों की लम्बी परम्परा रही है। इनमें मुख्य हैं– संघी मोहनदास, रामचन्द्र छावड़ा, संघी हुक्मचन्द, संघी झूंथाराम, श्योजीराम, अमरचन्द, राव कृपाराम पांड्या, बालचन्द्र छावड़ा, रायचन्द छावड़ा, विजैराम तोतूका, नथमल गोलेछा आदि। इन सभी वीर मन्त्रियों ने अपने प्रभाव से न केवल जैन मन्दिरों का निर्माण या जीर्णोद्धार ही करवाया वरन् जनकल्याणकारी विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास एवं संचालन में योग दिया और देश की रक्षा व प्रगति के लिये संघर्ष किया।

---

1. इस संबंध में पं. भंवरलाल जैन का 'जयपुर के जैन दीवान लेख 'जिनवाणी' का 'जैन संस्कृति और राजस्थान' विशेषांक; पठनीय है। पृष्ठ 332 से 339।